न्यायिक सक्रियता : एक अध्ययन

प्रवीण कुमार चौहान*, ईश्वरी प्रसाद बैरवा**

*शोध छात्र, विधि विभाग, ओ०पी०जे०एस०, विश्वविद्यालय, चुरु (राजस्थान)

** शोध निर्देशक, विधि विभाग, ओ०पी०जे०एस०, विश्वविद्यालय, चुरु (राजस्थान)

सारांश *न्यायिक सक्रियता को लेकर लोकसभा में पक्ष–विपक्ष के सांसदों में भले ही एकजुटता दिखी हो, लेकिन इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि कई बार विधायिका एवं कार्यपालिका के रुख–रवैये के कारण भी अनेक मामले उच्चतर न्यायपालिका तक पहुंचते हैं। सुप्रीम कोर्ट के क्रिकेट बोर्ड के संचालन से लेकर मेडिकल कॉलेजों में दाखिले तक के नियम बनाने पर आपत्ति जताने वालों को यह पता होना चाहिए कि उक्त मामलों में विधायिका एवं कार्यपालिका से जो अपेक्षित था वह नहीं किया गया। यदि विधायिका और कार्यपालिका अपना काम सही तरह करें और खास तौर पर जनहित के मामलों पर पर्याप्त संवेदनशीलता एवं सजगता का परिचय दें तो फिर जनहित याचिकाओं के सिलसिले को एक बड़ी हद तक थामा ज सकता है। यह एक तथ्य है कि जनहित याचिकाओं के रूप में तमाम वे मामले सुप्रीम कोर्ट अथवा हाईकोर्ट एवं पहुंच रहे हैं जो मूल रूप से कार्यपालिका अथवा विधायिका के अधिकार क्षेत्र में आते हैं और उन्हें ही प्राथमिकता के आधार पर सुलझाने चाहिए। बात चाहे पुलिस सुधारों की हो अथवा राजनीतिक या फिर चुनाव संबंधी सुधारों की, इन मामलों में यदि कार्यपालिका और विधायिका सक्रियता दिखाई होती तो न्यायपालिका को दखल देने की जरूरत क्यों पड़ती?*

Reference to this paper should be made as follows:

प्रवीण कुमार चौहान*, ईश्वरी प्रसाद बैरवा**

न्यायिक सक्रियता : एक अध्ययन

RJPP 2017, Vol. 15, No. 3, pp. 86-93, Article No. 13 (RP590)

***Online available at** : http://anubooks.com/?page_id=2004*

परिचयः–

"Justice is supreme and justice ought to be beneficial for the society so that the society is placed in a better-off situation. Law Courts exist for the society to rise up the occasion to do needful in the matter, and as such may subsence the basic recrument of the society. It is a requirement of the society and low has to respond to its need."[1]

आखिर क्या कारण है कि सभी राजनीतिक दल पुलिस सुधारों की कोरी चर्चा करने तक सीमित हैं? इसी तरह किसी को बताना चाहिए कि सुप्रीम कोर्ट को नदियों के प्रदूषण से लेकर शहरी इलाकों में बढ़ते वायु प्रदूषण की चिंता क्यों करनी पड़ रही है?

पक्ष–विपक्ष के सांसदों को इससे परिचित होना चाहिए कि ऊँची अदालतों के पास ढेर से वे मामले भी पहुंच रहे हैं जिन पर शासन–प्रशासन या फिर संसद एवं विधानसभाओं को संज्ञान लेना चाहिए। संसद और विधानसभाओं में राजनीतिक दल जटिल मसलों का निपटारा करने से बचते हैं। अब तो वे हंगामें में अधिक वक्त जाया कर रहे हैं। कई बार तो राजनीतिक दल यह चेष्टा करते हुए भी दिखते हैं कि समस्या विशेष को न्यायपालिका ही निपटराए तो बेहतर। क्या यह विचित्र नहीं कि तीन तलाक जैसी गंभीर सामाजिक समस्या पर राजनीतिक दल संसद में कायदे से चर्चा करने के लिए भी तैयार नहीं? इस विषय पर वे देश को कोई सही संदेश देने में इसलिए नाकाम रहे, क्योंकि उन्हें अपने संकीर्ण राजनीतिक स्वार्थों की अधिक परवाह थी। यह सही है कि विधायिका और कार्यपालिका की तरह से न्यायपालिका की भी अपनी एक सीमा है और कई बार ऊँची अदालतें फालतू की जनहित याचिकाएं सुनती नजर आती है, लेकिन दूसरों के दोष देखने का तब कोई मतलब हो सकता है जब पहले अपनी खामियों को दूर करने की कोशिश की जाए। निःसंदेह जैसी आवश्कता न्यायपालिका में सुधारों की है वैसी ही विधायिका एवं कार्यपालिका के कामकाज के तौर–तरीकों में बदलाव लाने की भी है। बेहतर हो कि जहां संसद पर इस पर विचार करे कि राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग के गठन में क्या खामी रह गई वहीं न्यायपालिका भी इस सवाल का जवाब दे कि यह कितना उचित है कि न्यायाधीश ही अपने सहयोगियों की नियुक्ति करें? ऐसी कोई राह खोजी ही जानी चाहिए जिससे न्यायपालिका की स्वतंत्रता प्रभावित हुए बिना न्यायाधीशों की नियुक्ति पारदर्शी तरीके से हो सके।[2]

पिछले कुछ वर्षों में राज्यपाल नाम की संस्था की विश्वसनीयता संदिग्ध हुई है। कई राज्यपालों का केन्द्र की कठपुतली दिखना ऐसे आरोपों को आधार दे गया है। इससे न्यायपालिका को उन मामलों में भी हस्तक्षेप का अवसर मिला, जो उसके क्षेत्राधिकार में नहीं थे। चूंकि उच्चतम न्यायालय को संविधान की व्याख्या का अधिकार है, इसलिए वह अपना दायरा बढ़ाता जा रहा है। राजनीतिक दल भी जब विपक्ष में होते हैं, तो हर बात के लिए अदालत पहुंच जाते हैं, लेकिन सत्ता में होने पर आलोचक हो जाते हैं। अभी गोवा के मामले में कांग्रेस विधायक दल के नेता ने सर्वोच्च अदालत से मनोहर पर्रिकर को मुख्यमंत्री पद की शपथ लेने से रोकने की गुहार लगाई। हालांकि, अदालत ने संयम दिखाते हुए अर्जी खारिज कर दी, पर शक्ति परीक्षण की अवधि 15 दिन से घटाकर 48 घंटे कर दी। कांग्रेस ने उस कंपोजिट फ्लोर टेस्ट की मांग कर डाली, जिसका संविधान में कोई प्रावधान नहीं है। अदालत की टिप्पणी बिल्कुल सटीक है कि यदि ऐसा हुआ, तो राज्यपाल का पद बेमानी हो जाएगा।

कंपोजिट फ्लोर टेस्ट की शुरुआत उच्चतम न्यायालय ने ही जगदंबिका पाल मामले में यह जानने के लिए की थी कि उत्तर प्रदेश विधानसभा में बहुमत विधायकों का समर्थन कल्याण सिंह के साथ है या जगदंबिका पाल के साथ। 21 फरवरी, 1998 को प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भंडारी ने कल्याण सिंह के नेतृत्व वाली सरकार को बर्खास्त करके पाल को मुख्यमंत्री नियुक्त कर दिया था। बार–बार निवेदन के बावजूद कल्याण सिंह को बहुमत साबित करने का अवसर नहीं दिया गया। उन्होंने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में इसे चुनौती दी, जिसने 23 फरवरी को राज्य सरकार की बर्खास्तगी को असांविधानिक करार देते हुए उसे बहाल कर दिया। पाल इसके विरूद्ध सर्वोच्च अदालत गए, जिसके बाद 24 फरवरी को अदालत ने कंपोजिट फ्लोर टेस्ट कराने का निर्देष दिया। कल्याण सिंह व जगदंबिका पाल, दोनों मुख्यमंत्री के रूप में बैठे और शक्ति परीक्षण में कल्याण सिंह विजयी हुए। यह अलग बात है कि अगले ही दिन उनकी सरकार गिर गई।

साल 2005 में झारखण्ड मामले (अनिल कुमार झा बनाम संघ) में उच्चतम न्यायालय के निर्देष के बाद कई विधिवेत्ताओं ने भी चिंता जताई थी कि इससे न्यायपालिका और विधायिका के संबंध हमेशा के लिए बदल जाएंगे जो संविधान–सम्मत नहीं है। वह चिंता सच साबित हुई।

पिछले साल उत्तराखण्ड मामले (संघ बनाम हरीश रावत) में राष्ट्रपति शासन की वैधता की समीक्षा करते वक्त सर्वोच्च अदालत ने तीन घंटे के लिए सांविधानिक शून्य की स्थिति पैदा कर दी थी। छह मई को उसने निर्देश दिया कि शक्ति परीक्षण के लिए 10 मई को तीन घंटे के लिए राष्ट्रपति शासन हटाया जाएगा। उसने इस प्रक्रिया से विधानसभा अध्यक्ष को बाहर करके राज्य के विधायी मामलों के प्रधान सचिव व विधानसभा सचिव को कार्यवाही संचालित करने को अधिकृत किया। जबकि विधायी मामलों के प्रधान सचिव विधानसभा अध्यक्ष की अनुमति के बगैर उस परिसर में जाने तक को अधिकृत नहीं है। अदालत ने विधानसभा अध्यक्ष को कार्यवाही से अलग करके इस संस्था को भी नेस्तनाबूद कर दिया।

राजनीतिक वर्ग को समझना होगा कि लोकतंत्र से उसे असली व स्थायी न्याय जनता की अदालत से ही मिलेगा। साल 1984 में आंध्र प्रदेश में एनटी रामाराव सरकार को राज्यपाल रामलाल ने बिना किसी कारण बर्खास्त करके भास्कर राव को मुख्यमंत्री बना दिया। रामाराव कोर्ट जाने की बजाय अपने विधायकों के साथ दिल्ली आए, राष्ट्रपति भवन में उनकी परेड कराई और रामलीला मैदान में बड़ी जनसभा की, जिसे कई विपक्षी नेताओं ने संबोधित किया। अंततः जन–दबाव में उनकी सरकार बहाल हुई।[3]

न्यायपालिका के कुछ मामलों का अध्ययनः–

हाल में सुप्रीम कोर्ट ने एक बड़ा सबक दिया जब उसने 1991–96 के दौरान मुख्यमंत्री रहते जयललिता को भ्रष्टाचार के लिए प्रेरित करने और साजिष रचने के लिए शशिकला औरदो अन्य लोगों को जेल का रास्ता दिखा दिया। हालांकि यह मामला करीब दो दषक तक खिंचा और अदालती प्रक्रिया भी सुस्त रही, फिर भी जो लोग चाहते हैं कि न्याय प्रणाली अमीर और ताकतवर वर्ग को जवाबदेही बनाए वे इस फैसले को जरूर मील का पत्थर मानेंगे। जयललिता–शशिकला के खिलाफ यह मामला इसका सूचक है कि भ्रष्ट राजनेता किस प्रकार बेतहाशा संपत्ति जुटाते हैं और जब पकड़े जाते हैं तब कानूनी प्रक्रिया को निष्क्रिय करने के लिए राजनीतिक रसूख का इस्तेमाल करते हैं। यह भी साफ है कि वे किस

तरह वकीलों की फौज खड़ी कर कानून की कमजोरियों का फायदा उठाते हैं। यह मामला हमें कुछ ऐसे लोगों की मानसिकता से भी रूबरू करा रहा है जो खुद को कानून से ऊपर मानते–समझते हैं।

भ्रष्टाचार की यह कहानी 1991 में जयललिता के तमिलनाडु की मुख्यमंत्री बनने के साथ शुरू हुई। उनके मुख्यमंत्री की कुर्सी छोड़ने के बाद उसी साल जून में सुब्रमण्यम स्वामी ने चेन्नई में एक विशेष न्यायाधीश के समक्ष उन पर आय से अधिक संपत्ति जुटाने का आरोप लगाते हुए षिकायत दर्ज कराई। जयललिता और दूसरे आरोपियों के खिलाफ यह मामला कुछ इस प्रकार रहा– वर्श 1987 में जयललिता की कुल संपत्ति 7.5 लाख रूपये थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने बैंक में एक लाख रूपये और कुछ आभूषण होने का दावा किया। इस मामले में दूसरी आरोपी शशिकला थीं जो जयललिता के चेन्नई स्थित 36, पोएस गार्डन घर में कभी–कभार आती–जाती थीं और फिर 1988 के बाद से जयललिता के साथ उनके घर में ही रहने लगी। जयललिता ने भी सार्वजनिक रूप से उन्हें दोस्त कम बहन की संज्ञा दी। तीसरे आरोपी वी०एन० सुधाकरण शशिकला की बहन के बेटे थे और जयललिता ने उन्हें दत्तक पुत्र माना था। वह भी जयललिता के साथ ही रहते थे। अन्य आरोपी में इलावरासी शशिकला के मृतक भाई की पत्नी थी। पति की मौत के बाद वह भी जयललिता के घर में ही रहने लगी थी। जयललिता और अन्य तीन आरोपी एक छत के नीचे रहे और सभी ने मिलकर भ्रष्ट तरीके से जुटाई गई नकदी को विभिन्न कंपनियों में छिपाने की भरसक कोशिश की। इस पूरी कारगुजारी में उनकी बेशर्मी इस तथ्य से उजागर होती है कि उनके द्वारा दर्जनों कंपनियों और बैंक खाते खोले गए। इन खातों में करोड़ों रूपये जमा कराए गए और उनका इस्तेमाल जमीन–जायदाद खरीदने में किया गया। आरोपियोंने इस पूरे खेल को कुछ इस तरह अंजाम दिया जैसे कि देष में आयकर और भ्रष्टाचार निरोधक कोई कानून ही न हो। जयललिता 1987–88 से लेकर 1992 तक आयकर रिटर्न दाखिल करने को लेकर फिक्रमंद नहीं रहीं। उस दौरान वह राज्यसभा की सदस्य, तमिलनाडु में विपक्ष की नेता और मुख्यमंत्री तक रही थीं। तब उनसे किसी ने प्रश्न पूछने की जहमतन हीं उठाई। उन्होंने अपना आयकर रिटर्न तब दाखिल किया जब संसद में यह मुद्दा उठा। यह देश में चल रहे दो तरह के नियम–कानूनों का एक और उदाहरण है– एक ईमानदार और कानून का पालन करने वाले नागरिकों के लिए और दूसरा राजनीतिक रूप से ताकतवर लोगों के लिए।

यह सच है कि रसूख वाले भ्रष्टाचारियों को जेल भेजने में बीस साल लग गए और यह दुखदायी है, लेकिन एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि कानून के लंबे हाथ अंततः आरोपियों की गर्दन तक पहुंच ही गए। जाहिर है यह फैसला न्याय व्यवस्था में लोगों का विष्वास बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।[4]

अयोध्या में विवादित ढांचे के ध्वंस की साजिश के आरोपों से उच्च न्यायालय की ओर से मुक्त हो चुके लालकृष्ण आडवाणी, मुरली मनोहर जोशी, कल्याण सिंह, उमा भारती आदि नेताओं के मामले में सुप्रीम कोर्ट की यह टिप्पणी बंद पिटारे को खोलने वाली साबित हो सकती है कि इन लोगों को तकनीकी आधार पर छोड़ा नहीं जा सकता। यह संभव है कि इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने जिस तकनीकी आधार पर इन नेताओं को आपराधिक षड़यंत्र के आरोप से मुक्त किया उसकी समीक्षा की जरूरत हो, लेकिन यह समझना कठिन है कि यह काम सात साल बाद करने का क्या औचित्य? एक सवाल यह

भी है कि इतने वर्षों बाद यह क्यों समझ आया कि ढांचा ध्वंस से जुड़े मुकदमोंके जो ट्रायल रायबरेली और लखनऊ की विशेष अदालतों में चल रहे हैं उन्हें एक साथ चलाना बेहतर होगा? यह सुझाव अनुचित नहीं, लेकिन आखिर किसी को समय रहते यह क्यों नहीं सूझा कि दो जगह करीब–करीब एक तरह का काम होने का क्या मतलब? अभी यह कहना कठिन है कि रायबरेली और लखनऊ की विशेष अदालतों में लंबित मुकदमों को संयुक्त आरोपपत्र के आधार पर एक साथ जोड़ा जाएगा या नहीं, लेकिन अगर ऐसा होता है, जैसे कि संकेत दिए गए तो इससे नतीजे में पहुंचने में और देरी हो सकती है। माना जा रहा है कि अगर दोनों जगह के ट्रायल एक साथ मिलाए जाते हैं तो करीब दो सौ गवाहों को फिर बुलाना पड़ सकता है। दरअसल इन्हीं तौर–तरीकों से अदालती फैसलों में अनावश्यक विलंब होता है। जब ऐसा चर्चित मामलों में भी होता है तो आम लोगों को और अधिक निराशा होती है।

बड़े लोगों से जुड़े अथवा अन्य कारणों से चर्चित मामलों यह भी खूब देखने को मिलता है कि वर्षों तक अदालत–अदालत होता रहता है। अक्सर मामला इतना लंबा खिंचता है कि लोगों की दिलचस्पी ही खत्म हो जाती है। कई बार तो ऐसे मामलों के अभियुक्तों के साथ–साथ गवाहों का भी निधन हो जाता है, लेकिन अंतिम फैसला तब भी नहीं आता। निःसंदेह यह भी होता है कि बंद हो चुके मामलों को किसी न किसी याचिका के बहाने नए सिरे से खोलने की कोशिश की जाती है। 1992 में अयोध्या के विवादित ढांचे के ध्वंस का मामला पहला ऐसा मामला नहीं जो लंबा खिंच रहा हो। 1984 के सिख विरोधी दंगों से जुड़े कुछ मामले भी समाप्त होने का नाम नहीं लेते। यह किसी से छिपा नहीं कि जगदीश टाइलर और सज्जन कुमार के मामले अदालतों से बाहर आने का नाम नहीं ले रहे हैं। इसका कोई औचित्य नहीं कि पीढ़ियां बीत जाएं और फिर भी अदालती काम पूरा होने का नाम न ले। सबसे हैरानी की बात यह है कि तमाम मामले ऐसे हैं जो विशेष अदालतों में चलने के बावजूद जरूरत से ज्यादा लंबा खिंच रहे हैं। जब होना यह चाहिए कि बड़े मामलों का पटाक्षेप प्राथमिकता के आधार हो तब इसके उलट काम होता हुआ दिखता है। बेहतर हो कि न्यायपालिका यह समझे कि यदि मामलों का निपटारा समय पर नहीं हो रहा तो इसके लिए किसी न किसी स्तर पर वह भी जिम्मेदार है।[5]

सर्वोच्च न्यायालय ने निर्भया मामले में लंबी सुनवाई के बाद चारों अपराधियों की फांसी की सजा को बरकरार रखकर उस जुर्म की भयावहता को तो माना ही है; अपने फैसले के जरिये अदालत ने यह भी साफ कर दिया है कि अपराध के ऐसे जघन्यतम मामले में मृत्युदण्ड के अलावा और कोई विकल्प नहीं है। हालांक अपराधियों के सामने शीर्श अदालत के इस फैसले के खिलाफ अपील करने के रास्ते खुले हैं और मानवाधिकारवादियों के एक तबके ने फांसी की सजा के खिलाफ आवाज भी उठाई है। पर पहले निचली अदालत, फिर उच्च न्यायालय और अब सर्वोच्च न्यायालय के तीनों न्यायाधीषों ने एक स्वर में जिस तरह मष्त्युदण्ड पर मुहर लगाई है, वह इस अपराध की भीशणता की ही तस्दीक करती है। यौन हिंसा की दिल दहला देने वाली यह घटना दिल्ली में ऐन सरकार की नाक के नीचे हुई थी, इसकी कारण उस घटना पर इतना आक्रोष और क्षोभ था कि सड़कों पर कई दिनों तक भीड़ उमड़ती रही और सरकार को यौन हिंसा के खिलाफ कठोर कानून बनाने का कदम उठाना पड़ा। कठोर सजा से यौन अपराध के प्रति भय तो पैदा होगा, लेकिन यह मानना भोलापन होगा कि सिर्फ इसी से समाज में औरतों के खिलाफ अपराध कम हो जाएंगे। इसमें दो राय नहीं कि निर्भया मामले के बाद समाज की सोच कमोबेश बदली है, लेकिन महिलाओं के खिलाफ अपराध कम हो गए हों, इसका कोई प्रमाण नहीं है। रात में दिल्ली की

सड़कें महिलाओं के लिए आज भी कमोबेश उतनी ही असुरक्षित हैं, जितनी पहले थीं। ऐसे में, देश के दूरस्थ इलाकों में क्या स्थिति होगी, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। निर्भया के हत्यारों को अदालत ने सजा दे दी है, पर निर्भया को सच्ची श्रद्धांजलि हम तभी दे पाएंगे, जब लड़कियों और औरतें बेखौफ–बेरोकटोक आवाजाही कर सकेंगी जिस दौर में दूर कस्बों की लड़कियां तक आसमान छूने का हौसला रखती है, जब कोई पेशा उनके लिए निषिद्ध नहीं रह गया है, उस समय हम उन्हें अगर सड़कों पर सुरक्षा नहीं दे पा रहे, तो इससे बड़ी विडंबना और कुछ नहीं। लिहाजा वास्तविक बदलाव तो तभी आएगा, जब यौन हिंसा के खिलाफ कठोर कानून को समाज की बदली हुई सोच का भी साथ मिलेगा।[6]

न्यायपालिका की गरिमाः–

भारत की अदालती प्रक्रिया और कार्यवाही को पूरी दुनिया सम्मान की नजरों से देखती है। लेकिन जस्टिस कर्णन और सुप्रीम कोर्ट के बीच जिस तरह विवाद उभरा, उससे हमारी जगहंसाई हो रही है। अदालत की गरिमा से खिलवाड़–सा हो गया है। इसमें दो राय नहीं है कि सर्वोच्च अदालत ने जो भी आदेश जारी किए हैं, वे सभी सांविधानिक प्रक्रिया के तहत हैं। यहां तक कि जस्टिस कर्णन को छह महीने की सजा सुनाया जाना भी। संविधान का अध्याय–4 'संघ की न्यायपालिका' की स्पश्ट व्याख्या करता है। अनुच्छेद–124 में उच्चतम न्यायालय की स्थाना और गठन का उल्लेख है। इसी कड़ी में अनुच्छेद–129 कहता है कि उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय होगा और उसको अपनी अवमानना के मामले में शक्ति के साथ ही अभिलेख न्यायालय की सभी शक्तियां भी हासिल होंगी। यानी सर्वोच्च न्ययालय के पास यह पूरा अधिकार है कि अगर उसे यह लगता है कि उसकी अवमानना हुई है, तो वह इसके लिए दोषी के विरूद्ध सुनवाई कर सकता है और संबंधित पक्ष को कठोर सजा भी दे सकता है। यह उसका सांविधानिक अधिकार है, भले ही अवमानना करने वाला शख्स कोई आम आदमी हो या हाईकोर्ट के जज जैसा कोई विशिष्ट आदमी। शीर्ष अदालत उससे जवाब–तलब कर सकती है।

यह नहीं भूलना चाहिए कि जस्टिस कर्णन के मामले में पूरी न्यायसंगत प्रक्रिया अपनाई गई है। न्यायमूर्ति कर्णन ने मद्रास हाईकोर्ट में कुछ ऑर्डर ऐसे पास किए थे, जो न्यायसंगत नहीं थे। यह तक कहा गया कि आदेश असांविधानिक है। उसी से जुड़ा मामला जब सुप्रीम कोर्ट में पहुंचा, तो शीर्ष अदालत ने उसे रोकने के आदेश जारी कर दिए। जस्टिस कर्णन ने इसे मानने से इंकार कर दिया, जिसके बाद सुप्रीम कोर्ट ने उन्हें अवमानना की नोटिस भेजी। जस्टिस कर्णन अदालत में निजी तौर पर पेश जरूर हुए, मगर उन्होंने नोटिस का जवाब नहीं दिया। उल्टे उन्होंने आदेश जारी करने शुरू कर दिए। देश के प्रधान न्यायाधीश तक को उन्होंने पांच साल की सजा सुना दी, जो बिल्कुल हास्यास्पद है।

अब जस्टिस कर्णन के पास चंद ही विकल्प बचे हैं। वह पुनर्विचार याचिका दाखिल कर सकते हैं। अनुच्छेद–137 में इसकी व्यवस्था है। यह अनुच्छेद कहता है कि उच्चतम न्यायालय अपने फैसले या आदेश पर पुनर्विचार कर सकता है। यदि जस्टिस कर्णन यह याचिका दाखिल करते हैं, तो संभव है कि सर्वोच्च अदालत पूरे मामले पर फिर से गौर करे, अन्यथा उन्हें जेल जाना ही होगा। इस मामले में सर्वोच्च अदालत किसी कानून या लॉ के अंतर्गत नहीं, बल्कि अपनी सांविधानिक शक्तियों के तहत आदेश जारी कर रही है, इसलिए स्पष्ट है कि आगे भी कार्यवाही सामान्य मामलों की तरह नहीं होगी। सर्वोच्च अदालत खास रूख अपना सकती है। यहां इस तर्क का भी कोई अर्थ नहीं है कि यह मामला

संसद में जा सकता है। यह विशुद्ध रूप से अदालत की अवमानना का मामला है, इसलिए इसका निपटारा भी अदालती माध्यम से ही होगा। जस्टिस कर्णन या तो पुनर्विचार याचिका दाखिल करेंगे या फिर छह महीने की सजा भुगतेंगे।

जस्टिस कर्णन इन तमाम मामलों का अंतिम नतीजा देख सकते हैं। वह 1963–64 की उस घटना पर भी गौर कर सकते हैं, जब जस्टिस सईद जाफर इमाम सुप्रीम कोर्ट के जज हुआ करते थे। उनकी तबीयत बहुत अच्छी नहीं रहती थी, इसलिए वह दो–तीन महीने कोर्ट नहीं आए, मगर वह यही कहते रहे कि वह काम कर रहे हैं। उस समय देष के अर्टार्नी जनरल एम०सी० सीतलवाड़ थे और सॉलिसिटर जनरल सी के दफ्तरी। सीतलवाड़ ने अपनी किताब माइ लाइफ में इस घटना का जिक्र करते हुए बताया है कि किस तरह विवाद बढ़ने पर उन लोगों को तत्कालीन प्रधान न्यायाधीश बी०पी० सिन्हा ने बुलाया था और फिर प्रधानमंत्री पंडित नेहरु ने जस्टिस जफर इमाम को इस्तीफे के लिए राजी करके उस मामले को खत्म करवाया था।

इस मामले को भी खत्म किया जा सकता है। इसे अब तूल देने का कोई मतलब भी नहीं है। जस्टिस कर्णन के माफी मांगते ही यह विवाद खत्म हो जाएगा। हमारी न्याय–व्यवस्था 'जैसे को तैसा' की नीति नहीं अपनाती। मगर इसके लिए जरूरी यह है कि जस्टिस कर्णन अदालत में आए। एक बार वह निजी तौरपर पेश हो चुके हैं, लेकिन जवाब देने से बच रहे हैं। वह सिर्फ आदेश जारी कर रहे हैं। वैसे भी, उन्होंने जो आरोप लगाए हैं, वे सारे बेबुनियाद ही लग रहे हैं। न्यायपालिका जाति के आधार पर दुर्भावना से प्रेरित होकर काम करे, यह हमने कहीं नहीं देखा है। कम से कम मेरा निजी अनुभव तो इसकी गवाही कतई नहीं देता।[7]

सर्वोच्च न्यायालय के ताजा फैसले के साथ ही राजद सुप्रीमो लालू प्रसाद यादव की राजनीतिक पारी का एक और अध्याय षुरू हो गया है। अदालत ने 21 साल पुराने 950 करोड़ के चारा घोटाले के सभी चार मामलों में लालू प्रसाद यादव पर अलग–अलग मुकदमे चलाने के निर्देष दिए हैं। बिहार के एक अन्य पूर्व मुख्यमंत्री जगन्नाथ मिश्र और तत्कालीन ब्यूरोक्रेट सजल चक्रवर्ती पर भी साथ–साथ केस चलेगा। यह वही मामला है, जिसमें 2014 में झारखण्ड उच्च न्यायालय ने यह कहकर रोक लगा दी थी कि एक ही मामले में एक ही व्यक्ति पर समान गवाहों के साथ अलग–अलग केस नहीं चल सकता। अदालत ने इस मामले में सारी कार्यवाही तय समय–सीमा में पूरी करने की शर्त भी रखी है। लालू यादव पहले से सजायाफ्ता हैं और जमानत पर हैं। उन्हें 2013 में इसी घोटाले के एक मामले में सजा के बाद सांसद पद छोड़ना पड़ा और एक तय अवधि तक चुनाव लड़ने पर भी रोक लग गई थी। उस वक्त माना यही गया था कि लालू यादव की राजनीति खत्म हो गई, लेकिन राजनीति में उनकी भूमिका बनी रही। वह चुनावी राजनीति से भले ही बाहर हो गए, लेकि उन्होंने अपनी प्रासंगिकता खत्म नहीं होने दी। बिहार की राजनीति को वह अब तक प्रभावित करते रहे हैं। सबको पता है कि 2015 के बिहार विधानसभा चुनाव में उनकी क्या भूमिका रही है, यह भी कि 2014 में चले मोदी रथ को बिहार में रोकने पर यदि किसी की रणनीति काम आई थी, तो वह लालू यादव ही थे। ताजा फैसले के बाद उनकी राजनीति क्या करवट लेगी, इस पर सबकी नजर रहेगी।

ऊपरी तौर पर लालू प्रसाद की राजनीति पर तब तक कोई खास असर पड़ता नहीं दिखाई देता, जब तक कि वह इन या ऐसे मामलों में सजा पाकर पूरी तरह जेल न चले जाएं। लेकिन फिलहाल

सच यही है कि उनके गले पड़ी कई मुश्किलों में इस फैसले ने इजाफा कर दिया है। पिछले कुछ दिनों से दोनों मंत्री पुत्रों सहित लालू यादव खुद भी मिट्टी घोटाले के ताजा जिन्न और अभी–अभी आए कथित लालू–शहाबुद्दीन टेलीफोन वार्ता से विपक्ष के निशाने पर हैं। ताजा फैसला इन हमलों को और धार देगा। राजनीतिक उठापटक बढ़ेगी, आरोप–प्रत्यारोप की तलवारें और ज्यादा तेजी से चमकेंगी। यह भी तय है कि फैसला लालू प्रसाद की राजनीति से ज्यादा बिहार के महागठबंधन की राजनीति पर असर डोलेगा और यही असल में देखने की बात होगी। कहना न होगा कि हाल में लगे आरोपों के बाद जस तरह की बातें सामने आईं, जिस तरह महागठबंधन के बड़े साथी लालू प्रसाद के बचाव की बजाय जद–यू अपनी छवि को लेकर सतर्क दिखा, उसने भी भविष्य के संकेत दिए हैं।

यह फैसले खुलासे के 21 साल बाद आया है और वह भी अंतिम फैसला नहीं है। यह एक घोटाले में आपराधिक मुकदमा चलाने, न चलाने पर आया फैसला है। यानी अभी बहुत कुछ बाकी है। चार अलग–अलग मामलों में मुकदमा चलेगा, फिर सजा का एलान होगा। अदालत ने सुनवाई की समय–सीमा तय कर दी है। लेकिन इतने चर्चित मामले में इस विलंब पर भी बहस होनी चाहिए। अदालत ने सीबीआई को इस मामले में इतनी देरी के लिए फटकार लगाकर आगे के लिए आगाह भी किया है। लेकिन कैसे आश्वस्त हुआ जाए कि भविष्य में सिर्फ इसलिए विलंब नहीं होगा कि सर्वोच्च अदालत ने ऐसा आदेश दे रखा है? दरअसल, ऐसे मामलों में एक अलग व्यवस्था कर हर हाल में त्वरित सुनवाई और फैसले की जरूरत है। फिलहाल लालू प्रसाद और बिहार की राजनीति ही नहीं, देश में राजनीति के पक्ष–प्रतिपक्ष की राजनीति में भी क्या अध्याय शुरू हो चुका है।

सन्दर्भः–

1. Umesh, C. Banerjee, J. in Jai Kumar Vs State of M.P. (1999) 5 SCC 1, Para- 13
2. Chitkara M.G. and Mehta, P.L., Law and the Poor, Ashish Publishing House, New Delhi, 1991, P. 9
3. Sathe, S.P., Judicial Activism in India, Oxford University Press, 2002, P. 7
4. Rao, P.P., "Judicial Activism : Its Positive and Negative Aspect", Banerjee, D. (Ed.), P. 37
5. दैनिक जागरण संपादकीय, 23 मार्च, 2017
6. सुधांशू रंजन (वरिष्ठ टीवी पत्रकार), 17 मार्च, 2017
7. ए० सूर्यप्रकाश, संपादकीय जागरण, 2 मार्च, 2017
8. संपादकीय जागरण, 7 मार्च, 2017
9. अमर उजाला, 6 मई, 2017
10. न्यायमूर्ति पलोक बसु, पूर्व न्यायाधीश, इलाहाबाइ हाईकोर्ट, हिन्दुस्तान– 11 मई, 2017
11. हिन्दुस्तान, 9 मई, 2017